द्वितीय अध्याय

"बौद्ध - धर्म - दर्शन एवं साधना"

1। प्रस्ताविक :-

तत्व-बोध (सम्बोधि-प्राप्ति) होने के उपरान्त भगवान बुद्ध के मन में विचार आया कि - "मुझे कठिनाई से प्राप्त हुआ (धर्म) प्रकाशित करना व्यर्थ है । राग-द्वेष से अभिभूत (लोगों के लिए) यह धर्म सुबोध नहीं है । प्रतिस्त्रोतगामी, सूक्ष्म, गम्भीर, दुर्बोध, अणु (धर्म) को रागरक्त एवं तमःस्कन्ध से आवृत्त लोग नहीं देखेंगे ।"[1] अतः धर्मोपदेश के प्रति वे अनुत्सुक हुए । बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध की धर्म-देशना के प्रति इस उदासीनता को देखकर ब्रह्मदेव उनके सम्मुख प्रकट हुए, और कहा - "धर्ममय प्रासाद से शोकावतीर्ण जनता को देखिए और धर्म का उपदेश कीजिए, जानने समझने वाले भी होंगे ।"[2] इस प्रकार ब्रह्मा की याचना के फल-स्वरूप शास्ता ने धर्म - प्रचार का निश्चय किया ।

अपने धर्म के प्र उपदेश के लिए उन्होंने सर्वप्रथम आलाड़ कलाम एवं उद्रकराम पुत्र, इन दोनों को योग्यतम व्यक्ति माना । किन्तु इन दोनों का देहान्त इससे पूर्व ही हो चुका था । अतः काशी जाकर बुद्ध-भगवान ने सर्वप्रथम पंचवर्गीय भिक्षुवों को उपदेश दिया, जो "बुद्ध-देशना" और "प्रथम धर्मचक्र प्रवर्त्तन" के नाम से प्रसिद्ध हुआ । इसके अन्तर्गत मूल रूप से जिन-जिन बातों का समावेश था, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

2। मध्यम प्रतिपदा :-

बुद्ध-भगवान ने अपने उपदेश का प्रारम्भ मध्यम-मार्ग के अनुशरण की अनुज्ञा से किया था - "भिक्षुओं को इन दो अतियों का सेवन नहीं करना चाहिए -

---

1- डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्ध - धर्म के विकास का इतिहास - (पृ० 52)
2- डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्ध - धर्म के विकास का इतिहास - (पृ० 53)

(1) काम – सुख में लिप्त होना और (2) शरीर पीड़ा में लगना । इन दोनों अतियों को छोड़कर मैंने मध्यम मार्ग खोज निकाला है, जो कि आँख देने वाला, ज्ञान कराने वाला और शान्ति देने वाला है ।[1] बुद्ध भगवान का यह मध्यम मार्ग दो अन्तों (अतियों) का परिहार करता है । एक अन्त है – इच्छित (काम्य) वस्तुओं के भोग की इच्छा से सदा लगे रहना, दूसरा अन्त है – शरीर को कष्ट देना ।[2] इस प्रकार उन्होंने उच्छेद और शाश्वत दोनों अतियों का परिहार करके इस मार्ग के अनुसरण की आज्ञा दी, जिसे उन्होंने सभी के लिए कल्याणकारी एवं अनुकरणीय बताया । यही उनकी मध्यम – प्रतिपदा है ।

3) <u>चार आर्य सत्य</u> :–

तथागत ने जिन चार आर्य सत्यों का साक्षात्कार किया वे थे – (1) दुःख, (2) दुःख समुदय, (3) दुःख निरोध एवं (4) दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा । इन्हीं सत्यों के सम्यक् ज्ञान के फलस्वरूप उन्हें सम्बोधि-प्राप्त हुई थी । इन्हें आर्य सत्य इसलिए कहा जाता है कि आर्य-जन, विद्वज्जन ही इन सत्यों की तह तक पहुँच सकते हैं । ये बौद्ध धर्म में "चत्वारि आर्य सत्यानि" के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनका सामान्य परिचय इस प्रकार है –

क) दुःख : भगवान बुद्ध के अनुसार मनुष्य का जीवन दुःखमय है । व्यक्ति के प्रत्येक क्रिया-कलाप, प्रत्येक घटना एवं कार्य में दुःख की सत्ता व्याप्त है । उन्होंने कहा – "भिक्षुओं ! दुःख (प्रथम) आर्य-सत्य है । जाति (जन्म) दुःख है । जरा दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मृत्यु भी दुःख है, अप्रिय संयोग भी दुःख है । संक्षेप में पाँचों उपादान (रूप, वेदना, संज्ञा संस्कार और विज्ञान) दुःख रूप है ।[3]

1– दे० धर्म चक्र प्रवर्तन सुत्त संयुत्त निकाय – 55/2/1
(यहाँ पर बुद्धचर्या – पृ० 23 से उद्धृत)

2– दे० आचार्य नरेन्द्र देव, बौद्ध-धर्म-दर्शन – (पृ० 62)

3– इदं खो पन भिक्खवे दुक्खं अरियं सच्चं । जाति पि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणम्पि दुक्खं, सोक-परिदेव-दोमनस्सुपायासापि दुक्खा, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं संखित्तेन पञ्चुपादानक्खन्धापि दुक्खा ।
(बौद्ध दर्शन मीमांसा – पृ० 55 – 56 से साभार)

(ख) दुःख समुदय : दुःख समुदय का अर्थ है - दुःख का कारण । यह द्वितीय आर्य सत्य है । बिना कारण के कोई भी कार्य नहीं होता। दुःख (कार्य) है, तो दुःख का समुदय (कारण) भी अवश्य होगा। कार्य - कारण का यह नियम सनातन है । यहाँ दुःख का कारण तृष्णाओं की कभी न बुझने वाली प्यास है । यह तृष्णा ही दुःख का मूल हेतु (कारण) है, जो कि तीन प्रकार की है - (1) काम तृष्णा, (2) भव तृष्णा और (3) विभव तृष्णा ।[1]

(1) काम तण्हा (तृष्णा) : "काम" शब्द यहाँ "कामना" मात्र के लिए अर्थात् अपने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः लौकिक सुख-समृद्धि एवं संतति विषयक जितनी भी कामनाएं हो सकती हैं, वे सब "काम - तृष्णा" के अन्तर्गत आती हैं । ये तृष्णाएं व्यक्ति को विषयों की ओर प्रेरित करती हैं । इनकी पूर्ति के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहता है, और इनका अपूर्ण रहना ही उसके दुःख का कारण बन जाता है । एक के बाद एक, अनन्त कामनाओं की पूर्ति का अभिलाषी व्यक्ति इनसे मुक्त नहीं हो पाता और "भव-चक्र" में फँसा रहता है । अर्थात् आवागमन के प्रवाह में निमग्न रहता है ।

(2) भव तण्हा (तृष्णा) : बुद्ध भगवान द्वारा उपदिष्ट द्वादशनिदानों में एक"भव" भी है । यहाँ उसका अर्थ होगा है - पुनर्जन्म का कारण बनने वाले कर्म । उपनिषदों में जिसे लोकैषणा कहा गया है, बौद्धों ने सम्भवतः उसी को "भवतण्हा" कहा है ।

1- इदं खो पन भिक्खवे दुक्ख समुदयं अरियसच्चं । यायं तण्हा पोनोब्भविका नन्दिरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी सेय्यथीदं कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा ।
(दे० मज्झिमनिकाय - महाहत्थिपदोपमसुत्त)

57

3. विभव तण्हा (तृष्णा) : विभव का अर्थ है – उच्छेद या संसार (जीवन) का नाश। इसके नाश की आशंका से भी मनुष्य दुःख का अनुभव करता है। अतः जीवन के नाश की शंका भी उसी प्रकार दुःख देती है जिस प्रकार उसके शाश्वत होने की अभिलाषा।

यह त्रिविध-तृष्णा जगत् के समस्त विरोध एवं विद्रोहों की जननी है, और इसलिए उपर्युक्त तीन प्रकार की तृष्णाओं को बुद्ध भगवान ने व्यक्ति के दुःखों का मूल कारण बताया है।

ग. दुःख निरोध : यह तृतीय आर्य सत्य है। तृष्णाओं का अत्यन्त नाश अथवा त्याग, दुःख निरोध कहलाता है। दुःख है, दुःख का कारण है तो दुःख का नाश भी सम्भव है। बुद्ध ने इस सत्य को इस प्रकार व्याख्या की है –

"इदं खो भिक्खवे दुःखनिरोधं अरियसच्चं। यो तस्यादेव तण्हाय असेसविराग निरोधो चागो पटिनिस्सग्गो मुत्ति अनालयो।"[1]
अर्थात् दुःख निरोध आर्य सत्य उस तृष्णा के अशेष (सम्पूर्ण) वैराग्य का नाश है।

दुःख निरोध की लोकप्रिय संज्ञा "निर्वाण" है। तृष्णा के नाश से इसी जीवन में अर्थात् जीवितावस्था में ही पुरुष उस अवस्था तक पहुँच जाता है जिसे "निर्वाण" कहते हैं।[2]

1- आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन मीमांसा से साभार।
2- आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन मीमांसा – (पृ0 59)

घ) **दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा :** यह चतुर्थ आर्य सत्य है। मनुष्य को दुःख विमुक्ति का जो मार्ग तथागत ने दिखाया वही दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा कहलाता है। यह दुःखों के निरोध तक पहुँचाने वाला अथवा निर्वाण का मार्ग आर्य अष्टांगिक मार्ग है। जिसका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है।

4) <u>आर्य अष्टांगिक मार्ग</u> :-

यह बौद्ध धर्म की आचार मीमांसा का चरम साधन है। बुद्ध ने मनुष्य के दुःखों की निवृत्ति हेतु इसका उपदेश दिया। यह मार्ग मनुष्य को मध्यम मार्ग का अनुगामी बनाकर व उसके दुःखों का क्षय करके उसे निर्वाण प्राप्ति के योग्य बनाता है। इस मार्ग के आठ अंग हैं जो इस प्रकार हैं -

1) सम्यक् दृष्टि : कायिक, वाचिक, मानसिक एवं भले-बुरे कर्मों के ठीक-ठीक ज्ञान को सम्यक् दृष्टि कहा गया है।

2) सम्यक् संकल्प : राग, हिंसा, प्रतिहिंसा - रहित संकल्प को सम्यक् संकल्प कहते हैं।

3) सम्यक् वाचा : झूठ, चुगली, कटु भाषण और व्यर्थ बात रहित सच्ची मृदु बातों का बोलना सम्यक् वचन कहलाता है।

4) सम्यक् कर्मान्त: हिंसा, चोरी, व्यभिचार रहित कर्म ही सम्यक् कर्म हैं।

5) सम्यक् आजीविका : झूठी जीविका छोड़ सच्ची जीविका से शरीर यात्रा चलाना। उस समय के समाज द्वारा अनुमोदित जीविकाओं में सिर्फ निम्नलिखित जीविकाओं को ही भगवान बुद्ध ने झूठी जीविका कहा था, यथा -

(1) हथियार का व्यापार, (2) प्राणी का व्यापार,
(3) मांस का व्यापार, (4) मद्य का व्यापार और
(5) विष का व्यापार।

(अंगुत्तर निकाय - 5)

6) सम्यक् प्रयत्न (व्यायाम) : इन्द्रिय-संयम, बुरी भावनाओं को उत्पन्न न होने देना, अच्छी भावनाओं के उत्पादन का प्रयत्न करना, उत्पन्न हुई अच्छी भावनाओं को कायम रखने का प्रयत्न करना आदि सम्यक् व्यायाम हैं ।

7) सम्यक् स्मृति : काया, वेदना, चित्त और मन के धर्मों की ठीक स्थितियों, उनके मलिन, क्षण-विध्वंसी आदि होने का सदा स्मरण रखना - सम्यक् स्मृति के अन्तर्गत आता है ।

8) सम्यक् समाधि : चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं । ठीक समाधि वह है जिससे मन के विक्षेपों को हटाया जा सके ;[1] यह मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है - (1) उपचार समाधि और (2) अप्पना (अर्पणा) समाधि । इनके अनेक उपभेद भी हैं । समाधि की दस भूमियाँ मानी गई हैं ।

इस अष्टांगिक मार्ग के मूल में बौद्ध धर्म के तीन महनीय तत्त्व - (1) प्रज्ञा, (2) शील और (3) समाधि निहित हैं । जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

1) प्रज्ञा : प्रथम दो अंग (सम्यक् दृष्टि व सम्यक् संकल्प) "प्रज्ञा" तत्त्व के अन्तर्गत आते हैं, जिनके द्वारा मनुष्य की मानसिक शुद्धि होती है ।

2) शील : बीच के तीन अंग (सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका) "शील" तत्त्व के अन्तर्गत आते हैं, जो मनुष्य की वाचिक शुद्धि में सहायक होते हैं ।

3) समाधि : अन्तिम तीन अंग (सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि) "समाधि" तत्त्व के अन्तर्गत आते हैं, जिनसे मनुष्य की कायिक-शुद्धि का सम्पादन होता है ।

1- दे० म०म० राहुल सांकृत्यायन, दर्शन-दिग्दर्शन - (पृ० 508, 509)

इस प्रकार अष्टाँगिक मार्ग – प्रज्ञा, शील और समाधि के साधनाक्रम का पल्लवित रूप है, जो मनुष्य की त्रिविध-शुद्धि (काय, वाक्, चित्त) के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

5। <u>त्रिशरण</u> :-

बौद्ध-धर्म की तीन शरण प्रसिद्ध हैं – (1) बुद्ध, (2) धर्म और (3) संघ। इन तीनों को त्रिरत्न भी कहते हैं। इन तीनों का शरणागत व्यक्ति ही बौद्ध-धर्म में दीक्षा पाने का अधिकारी माना गया है। बौद्ध-धर्म का मूल मंत्र है :-

"बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।"

अर्थात् बुद्ध की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ, संघ की शरण जाता हूँ। बुद्ध की शरण जाने का अर्थ है गुरु की शरण में जाना।[1]

उक्त आर्य अष्टाँगिक मार्ग के अनुसरण से जिस भव चक्र का निरोध होता है, उसे द्वादश निदान कहा गया है, जिसका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है :-

6। <u>द्वादश निदान (भवचक्र)</u> :-

बौद्ध-धर्म के अनुसार मनुष्य के जीवन में दुःखों की एक श्रृंखला – सी बनी हुई है। इनके कारण वह भवचक्र में फँसा हुआ, बार-बार जन्मता और मरता रहता है। ऐसी बारह कड़ियाँ हैं, जो एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। इन्हें ही "द्वादश निदान" कहा गया है। जिनके नाम इस प्रकार हैं –

"अविद्या – संस्कार – विज्ञान – नामरूप – षडायतन – स्पर्श – वेदना – तृष्णा – भव – जाति और जरामरण।"[2] ये सभी

1– आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध – धर्म – दर्शन – (पृ० 23)

2– डॉ० म०म० राहुल सांकृत्यायन, दर्शन – दिग्दर्शन – (पृ० 517)

आपस में पूर्वापर क्रम से (कार्य - कारण सम्बन्ध से) जुड़े हुए हैं । प्रत्येक पूर्ववर्ती अपने परवर्ती का कारण है और प्रत्येक परवर्ती अपने पूर्ववर्ती का कार्य है । इस प्रकार एक - चक्राकार रूप में मनुष्य का जीवन इस द्वादश निदानों के कारण जन्म व मरण की प्रथा में बद्ध है । इसे ही अनादि भवचक्र कहते हैं । संसार की सत्ता के मूल में यही हैं । अथवा संसार की सत्ता की स्थापना के मूल कारणों में भी ये द्वादश कारण प्रमुख हैं । इनके चक्र में घूमता हुआ जीव, सदैव दुःखी रहता है, शान्ति नहीं पाता । "आर्य अष्टांगिक मार्ग" ही इनके निरोध का मार्ग है ।

7) <u>पंचशील</u> :-

मनुष्य के व्यवस्थित एवं पवित्र आचरण के लिए बुद्ध-वचनों में जिन पाँच बातों का प्रावधान था, वे पंचशील नाम से अभिहित हैं ।

ये पाँच प्रकार की वर्जनाएं (निषेधाज्ञाएं) हैं, जो जन-सामान्य के लिए थीं। इन्हें "विरतियाँ" भी कहा गया है, जो इस प्रकार हैं -

1- असत्य नहीं बोलना चाहिए (मृषावाद विरति)
2- हिंसा नहीं करनी चाहिए (प्राणातिपात विरति)
3- चोरी नहीं करनी चाहिए (अदत्तादान विरति)
4- ब्रह्मचर्य का भंग नहीं करना चाहिए (कामभिथ्याचार विरति)
5- मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करना चाहिए (सुरामेरयमद्य विरति)

उपर्युक्त पाँच शीलों के अलावा भिक्षुओं के लिए अन्य पाँच शीलों के अनुसरण की आज्ञा थी । जैसे - (1) अपराह्न भोजन, (2) माला धारण, (3) संगीत, (4) सुवर्णरजत तथा (5) कोमल शय्या - इन पाँचों का त्याग अनिवार्य था । पूर्वशीलों से मिलाकर इन्हें ही दशशील कहा गया ।

8) <u>चार ब्रह्मविहार</u> :-

बौद्ध धर्म के अन्तर्गत चार ब्रह्मविहारों का विधान है जो मनुष्य के चित्त की शुद्धि के उत्तम (उत्कृष्ट) साधन हैं । ये हैं - (1) मैत्री, (2) करुणा,

2

(3) मुदिता और (4) उपेक्षा । ये चारों चित्त की दिव्य अवस्थाएँ हैं । इनके द्वारा राग, द्वेष, ईर्ष्या, असूया आदि चित्त के मलों का क्षालन होता है ।[1] इसका क्षेत्र भाव-जगत् तक सीमित होता है ।

(9) बौद्ध चिन्तन :-

अपने जीवनकाल में बुद्ध भगवान ने कुछ प्रश्नों को अव्याकृत अथवा अकथनीय कह कर उनका उत्तर देने से इन्कार कर दिया था ।

ये प्रश्न मुख्य रूप से दस हैं । कहीं-कहीं इनकी संख्या चौदह भी कही गई है ।[2] जो इस प्रकार है -

1- क्या लोक शाश्वत है ?
2- क्या लोक अशाश्वत है ?
3- क्या लोक शाश्वताशाश्वत है ?
4- क्या लोक न शाश्वत है, न अशाश्वत है ?
5- क्या लोक सान्त है ?
6- क्या लोक अनन्त है ?
7- क्या लोक सान्त और अनन्त दोनों है ?
8- क्या लोक न सान्त है, न अनन्त है ?
9- क्या तथागत मरने के बाद भी रहते हैं ?
10- क्या तथागत मरने के बाद नहीं रहते ?
11- क्या तथागत मरने के बाद रहते भी हैं और नहीं भी रहते ?
12- क्या तथागत मरने के बाद न तो रहते है और न नहीं रहते ?

1- आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध - धर्म - दर्शन - (पृ० 94)
2- दे० सौगतसिद्धान्त सार संग्रह, हिन्दी अनुवाद, डॉ० चन्द्रधर शर्मा - (पृ० 95)

13- क्या जीव और शरीर एक है ?

14- क्या जीव और शरीर भिन्न है ?

उपर्युक्त प्रश्नों के पूछे जाने पर बुद्ध भगवान मौन धारण कर लेते थे। उनके अनुसार - "ये प्रश्न न तो अर्थ - युक्त हैं, न धर्म - युक्त हैं, न आदि ब्रह्मचर्य के लिए उपयुक्त हैं। ये न निर्वेद के लिए हैं, न विराग के लिए न दुःखनिरोध के लिए, न शान्ति के लिए, न अभिज्ञा के लिए, न परमार्थ संबोधि के लिए और न निर्वाण के लिए। इसलिए इन्हें मैंने अव्याकृत कहा।"[1]

इस प्रकार भगवान बुद्ध के उपदेशों पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर यह संकेत मिलता है कि उनके विचारों में तत्वचिन्तन की अपेक्षा आचरण की भूमिका का स्थान अधिक था। अतः कतिपय विद्वानों की धारणा है कि बुद्ध धर्म में आचार की प्रधानता है तथागत निर्वाण के लिए तत्व ज्ञान के कठिन मार्ग पर चलने की शिक्षा कभी नहीं देते, प्रत्युत तत्व-ज्ञान के विषय में मौनावलम्बन ही श्रेयस्कर समझते हैं।[2] किन्तु बौद्ध साहित्य के अवलोकन से वस्तुस्थिति का दूसरा पक्ष सामने आता है। अर्थात् भगवान बुद्ध का व्यक्तित्व चाहे एक दर्शनाचार्य का न रहा हो, किन्तु उनका धर्मोपदेश दार्शनिक चिन्तन से सदा रहित है, यह नहीं कहा जा सकता। उनके उपदेशों में दार्शनिक चिन्ता का जो स्वरूप परिलक्षित होता है, उसका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत दिया जा सकता है -

1। धर्म मीमांसा (पदार्थ मीमांसा) : धर्म से अभिप्राय भूत और चित्त के उन सूक्ष्म तत्वों से है, जिनका पृथक्करण और नहीं हो सकता। इन्हीं धर्मों के आघात प्रतिघात से वह वस्तु सम्पन्न होती है जिसे जगत के नाम से पुकारते हैं।[3]

1- डॉ० चन्द्रधर शर्मा (हिन्दी अनुवाद) सौगत सिद्धान्त सार संग्रह, (पृ० 95)

2- आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन मीमांसा - (पृ० 61)

3- आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन मीमांसा - (पृ० 180)

प्राचीन बौद्धों ने तत्त्वों का विभाजन दो भागों में किया है -
§1§ संस्कृत धर्म §पदार्थ§ और §2§ असंस्कृतधर्म ।

क§ संस्कृत धर्म उनको कहा जाता है जिन पर कार्य कारण नियम लागू होता है । हेतु - प्रत्यय से उत्पन्न होने के कारण वो अस्थायी, गतिशील, अनित्य एवं रागादि मलों से युक्त रहते हैं । संस्कृत धर्म के अन्तर्गत पंच स्कन्ध - रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान आते हैं ।

ख§ असंस्कृत धर्म वे धर्म §या पदार्थ§ कहे जाते हैं जिनमें किसी भी प्रकार का संस्कार नहीं होता । वे कार्य - कारण से उत्पन्न नहीं होते । अतः इनकी सत्ता स्थायी व नित्य होती है । ये रागादि मलों से सर्वथा मुक्त होते हैं । ये विशुद्ध हैं एवं सत्य के प्रतीक हैं । असंस्कृत धर्मों के अन्तर्गत प्राचीन बौद्धों ने, प्रमुख रूप से "आकाश" तथा "निर्वाण" की गणना की है ।

2§ प्रतीत्य समुत्पाद : "प्रत्यय" से "उत्पाद" का अर्थ है - पीछे से उत्पाद - अर्थात् एक के बीत जाने या नष्ट हो जाने पर दूसरे की उत्पत्ति ।[1] यह बुद्ध के समस्त दर्शन का आधार है । किसी भी वस्तु या घटना का कार्य - कारण सम्बन्ध प्रतीत्य - समुत्पाद है । किसी भी वस्तु अथवा घटना का अस्तित्व इसलिए है कि पहले उनका कारण भी रहा होगा । उसी कारण ने कार्य को उत्पन्न किया । दोनों में पूर्वापर सम्बन्ध है । बुद्ध भगवान ने कहा था - "अस्मिन् सति इदं भवति ।" अर्थात् इसके होने पर यह होता है अथवा इसके न होने पर यह नहीं होगा । सारा घटनाचक्र कार्य कारणवाद या प्रतीत्य समुत्पाद के रूप में स्वयंमेव "अस्मिन सति इदं भवति" के रूप में गतिशील है । इस प्रकार वस्तुएं परस्पर सापेक्ष हैं,

---

1- म.प्रा० राहुल सांकृत्यायन, दर्शन - दिग्दर्शन - §पृ० 514§

एक क्षण स्थित रहने वाली हैं । वे कारण - कार्य के क्रम से नष्ट और उत्पन्न होती चलती और एक कारण - कार्य परम्परा का प्रवाह चलता रहता है, यही जगत् है ।[1] अर्थात् एक के विनाश के बाद दूसरे की उत्पत्ति, इसी नियम को "प्रतीत्य समुत्पाद" कहा जाता है ।

"बुद्ध का "प्रत्यय" ऐसा हेतु है जो किसी वस्तु या घटना के उत्पन्न होने से पहले क्षण सदा लुप्त होते देखा जाता है । प्रतीत्य - समुत्पाद कार्य - कारण नियम को अविच्छिन्न नहीं विच्छिन्न प्रवाह बतलाता है ।[2]

3। क्षण - भंगवाद : भगवान बुद्ध के क्षणभंगवाद का अर्थ है - संसार की सभी दृश्य - अदृश्य, जड़ चेतन वस्तुओं का क्षणिक अस्तित्व । अर्थात् ये सभी वस्तु या घटनाएँ एक क्षण रहकर दूसरे क्षण में विकार या रूपान्तरण को प्राप्त हो जाती हैं । उन्होंने संसार की सत्ता को अनित्य माना । अतः संसार की समस्त वस्तुओं, घटनाओं का अस्तित्व भी स्थायी न होकर क्षण-क्षण परिवर्तनशील है । राहुलजी ने "परिवर्तन" से बुद्ध का तात्पर्य एक का बिल्कुल नाश और दूसरे का बिल्कुल नया उत्पाद होना बताया है[3], किन्तु यह विवादास्पद है ।

4। अनात्मवाद : "आत्मा की सत्ता को बुद्ध बड़ी ही तुच्छ बुद्धि से देखते थे - "जो यह मेरा आत्मा अनुभवकर्ता, अनुभव का विषय है और तहाँ तहाँ अपने बुरे कर्मों के विषय को अनुभव करता है, यह मेरा आत्मा नित्य, ध्रुव शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील है, अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा - हे भिक्षुओं । यह भावना बिल्कुल बाल-धर्म है - अयं भिक्खवे, केवलो परिपूरा बाल धम्मो ।"[4]

1- डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि - पृ० 53।
2- म०म० राहुल सांकृत्यायन, दर्शन - दिग्दर्शन - पृ० 514।
3- म०म० राहुल सांकृत्यायन, दर्शन - दिग्दर्शन - पृ० 514।
4- आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० 78।

परन्तु भगवान बुद्ध को जिस अर्थ में हम अनात्मवादी समझते हैं, उस अर्थ में वे अनात्मवादी नहीं हैं । अर्थात् आत्मा की सत्ता का सर्वथा निषेध करने वाले वे नहीं हैं । आत्मा को ध्रुव - तत्व अथवा निर्विकार न मानकर उसे उन्होंने परिवर्तनशील अथवा प्रवाह स्वरूप स्वीकार किया है । उक्त वक्तव्य में बुद्ध ने जिस आत्मा की सत्ता को नकारा है, वह वस्तुतः उपनिषदों की आत्मा न होकर वेदान्तियों का "जीव तत्त्व" है, जिसे परवर्ती बौद्ध-चिन्तन में "सत्व" कहा गया है ।

5। अनीश्वरवाद : तथागत इस जगत का कर्ता - हर्ता किसी ईश्वर विशेष को नहीं मानते । उनके अनुसार ईश्वर मनुष्य की कल्पना मात्र है । इस सृष्टि का संचालन जिस आधार पर हो रहा है वह है - "प्रतीत्य - समुत्पाद" । अर्थात् जगत के प्रत्येक क्रिया - कलाप के मूल में यह कार्य - कारण - सम्बन्ध विद्यमान है । इसलिए इस मत में ईश्वर, ब्रह्म आदि कल्पित कारकों का प्रतिषेध है ।[1]

6। निर्वाण : निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है - बुझना, जैसे दीपक का निर्वाण अर्थात् दीपक का बुझना । बौद्ध चिन्तन में इसके दो भेद माने गये हैं - ।1। सोपधिशेष और ।2। निरुपधि शेष । प्रथम को हम वेदान्तियों की जीवन्मुक्ति और द्वितीय को वेदान्तियों की विदेहमुक्ति के समतुल्य कह सकते हैं । प्राचीन बौद्धों ने जिसे अर्हत् - पद कहा था, वही जीवन मुक्ति या सोपधिशेष निर्वाण है । द्वितीय की प्राप्ति देह के विनाश के बाद संभव होती है और उसमें सत्व ।जीव। की सत्ता शून्य में आत्यन्तिक रूप से विलय हो जाती है । संभवतः इसी निर्वाण की गणना असंस्कृत - धर्म के अन्तर्गत की गई है ।

इसी पृष्ठ भूमि के आधार पर कालान्तर में बौद्ध परम्परा में चार दार्शनिक मतों का प्रादुर्भाव हुआ ।

1- आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध धर्म दर्शन - ।पृ० 24।।

(10) <u>बौद्धों के चार दार्शनिक सम्प्रदाय</u> :

महायान के उदय के पश्चात् बौद्ध-परम्परा में दार्शनिक मतवाद का महत्व बढ़ा । इसके फलस्वरूप भगवान बुद्ध के मौन की अलग-अलग व्याख्यायें करके अनेक दार्शनिक मतवाद प्रतिपादित किए गये । इनमें से चार की विशेष प्रसिद्धि है जो इस प्रकार हैं - (1) वैभाषिक, (2) सौत्रान्तिक, (3) विज्ञानवाद और (4) शून्यवाद । अधिकांश विद्वान प्रथम दो का सम्बन्ध हीनयान से व अन्तिम दो का सम्बन्ध महायान से मानते हैं । आचार्य बलदेव उपाध्याय ने प्रथम एक (वैभाषिक) को हीनयान से तथा बाकी तीनों को महायान से सम्बन्धित माना है ।[1] इन्हीं चारों बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है ।

(1) वैभाषिक : इस दार्शनिक मत के अनुसार जगत की प्रत्येक वस्तु चाहे वह भीतरी हो या बाहरी, भूत हो या भौतिक, चित्त हो या चैत्तिक, वस्तुतः विद्यमान है । इनको इसलिए "सर्वास्तिवादी" कहा जाता है । इन्होंने बाह्य तथा अभ्यन्तर समस्त धर्मों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया और कहा कि जगत में बाह्य वस्तु का अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता । जिन वस्तुओं को लेकर हमारा जीवन है उनकी सत्यता स्वयं स्फुट है । "सर्वम् अस्ति" अर्थात् अतीत और अनागत धर्मों की भी वस्तुतः सत्ता है । सर्वास्तिवादियों का यह मूल सिद्धान्त है ।[2]

(2) सौत्रान्तिक : इनका मानना है कि बाह्य वस्तु का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता । जब समग्र पदार्थ क्षणिक हैं, तब किसी भी वस्तु के स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं । प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों के नील-पीत

1- आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन मीमांसा - (पृ0 160)

2- डॉ0 गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास - (पृ0 279)

आदिक चित्र चित्त के पट पर खिंच जाते हैं । जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब को देखकर बिम्ब की सत्ता का हम अनुमान करते हैं, उसी प्रकार चित्त पट के इन प्रतिबिम्बों से हमें प्रतीत होता है कि बाह्य अर्थ की भी सत्ता अवश्य है । अतः अर्थ की सत्ता अनुमान के ऊपर अवलम्बित है ।[1] इनके अनुसार वस्तु का ज्ञान हमारे मन पर निर्भर नहीं है । घड़े का ज्ञान हमें होता है इस स्थिति में घड़ा बाहर है और ज्ञान भीतर है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है । घड़े व कपड़े में हम अलग-अलग भेद देख सकते हैं । अतः वस्तुओं का अस्तित्व तो है पर उन्हें हम प्रत्यक्ष देख नहीं सकते, उनका अनुमान कर सकते हैं ।[2] बाह्यवस्तुओं का अनुमेय सिद्ध करने के कारण ये "बाह्यानुमेयवादी" भी कहलाते हैं ।[3]

5। योगाचार : इस मत के आचार्यों ने मन, चित्त व बुद्धि की सत्ता को एक मात्र सत्य स्वीकारते हुए विज्ञान की सत्ता की स्थापना की। उनके अनुसार बुद्धि के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का अपना कोई अस्तित्व नहीं है - "सर्वं बुद्धिमयं जगत" । सारा जगत बुद्धिमय है । लंकावतार, जो कि विज्ञानवादियों का आधारभूत ग्रन्थ है, में कहा गया है -

"दृश्यते न विद्यते, बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते ।
देहभोग प्रतिष्ठानं, चित्त मात्रं वेदाम्यहम् ।।"

अर्थात् बाहरी दृश्य जगत बिल्कुल विद्यमान नहीं है । चित्त ही अनेक रूपों में दिखाई पड़ रहा है । कभी वह चित्त शरीर के रूप में, कभी वस्तुओं के रूप में प्रतिष्ठित रहता है । अतः चित्त की ही एकमात्र सत्ता है ।[4] इसको न मानने से किसी भी विचार का प्रतिपादन नहीं हो सकता ।

1- आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध - दर्शन - मीमांसा - पृ0 161।
2- डॉ0 विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि - पृ0 74।
3- डॉ0 विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि - पृ0 75।
4- डॉ0 विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि - पृ0 73।

जैसा कि हम आगे देखेंगे कि माध्यमिकों ने जहाँ समस्त पदार्थों की सत्ता (अन्तर, बाह्य, जड़, चेतन आदि) का निषेध करते हुए "शून्य" की स्थापना की थी। वहीं योगाचार का मानना है कि "शून्य" की सत्ता का बोध कराने वाले चित्त (मन, बुद्धि) की सत्ता से कैसे इन्कार किया जा सकता है? अतः यह मत एकमात्र चित्त को सत्य मानकर चला।

4। माध्यमिक अथवा शून्यवाद : जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, माध्यमिकों ने जगत की प्रत्येक वस्तुओं, घटनाओं आदि की सत्ता का निषेध करके एकमात्र "शून्य" की सत्ता को स्वीकार किया है।

"शून्यता" से नागार्जुन (शून्यवाद के संस्थापक) का अर्थ है - प्रतीत्य समुत्पाद। विश्व व उसकी सारी जड़ चेतन वस्तुएं किसी भी स्थिर, एकतत्व (= आत्मा द्रव्य) आदि से बिल्कुल शून्य हैं। अर्थात् विश्व घटनाएं हैं, वस्तु समूह नहीं।[1] नागार्जुन ने माना - "जो कारणों या हेतुओं से उत्पन्न हुआ, उसे हम शून्यता कहते हैं। विश्व में कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो कारणों पर निर्भर नहीं हो और जो कारणों पर निर्भर है वह स्वतन्त्र नहीं है और कोई स्वतन्त्र नहीं है, वह परतन्त्र है और जो परतंत्र है, वह शून्य है।"[2]

उन्होंने इसे एक ऐसे तत्व की संज्ञा माना जो न सत् है, न असत् है, न सदसत् है, न सदसत् से भिन्न ही है। वह केवल एक अनिर्वचनीय तत्व है, जिसका केवल ज्ञान हो सकता है।[3]

न सन्, नासन्, न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकं।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः॥
(माध्यमिक कारिका - 17)

1- म०म० राहुल सांकृत्यायन, दर्शन - दिग्दर्शन - (पृ० 572)
2- डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि - (पृ० 61)
3- डॉ० रामनाथ शर्मा, कबीर और अखा, एक तुलनात्मक अध्ययन - (पृ० 111)

(1) <u>बौद्ध-दार्शनिकों का सत्य विषयक चिन्तन</u> :-

आचार्य नागार्जुन के अनुसार भगवान बुद्ध ने दो सत्यों के विषय में उपदेश दिया - (1) सांवृतिक सत्य और (2) पारमार्थिक सत्य।

"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोक संवृति सत्यं च सत्यं च परमार्थतः"।।[1]

(क) सांवृतिक सत्य : वेदान्तियों ने जिसे व्यावहारिक सत्य कहा है उसे बौद्धाचार्य सांवृतिक सत्य कहते हैं जो दो प्रकार का माना गया है - (1) लोक संवृति और (2) अलोक संवृति। घट-पट आदि अथवा नील-पीत आदि के रूप में जो लौकिक सत्य है, वही लोक संवृत्ति है। विज्ञानवादियों ने इसे परतन्त्र सत्य कहा। वेदान्ती जिसे आभास या भ्रान्ति कहते हैं, माध्यमिक उसे "अलोक संवृति" कहते हैं, जैसे - मरुमरीचिका। विज्ञानवादी इसे परिकल्पित सत्य कहते हैं - जैसे रज्जु में सर्प का दिखाई देना। अतः लोक संवृति और अलोक संवृति (स्वप्न भ्रम, आभास आदि) दोनों असत् हैं।"[2]

(ख) पारमार्थिक सत्य : पारमार्थिक सत्य वह है जो हेतु प्रत्ययजन्य से अतीत है, जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य पदार्थ पर अवलम्बित नहीं है। जो असंस्कृत तथा अपरिणामी है। सर्वधर्म नैरात्म्य या सर्वधर्म निःस्वभावता या शून्यता ही पारमार्थिक सत्य है। वह शब्दातीत या सर्व विवर्जित होने से तत्वतः वर्णनातीत (निःशब्द) या मौन रूप है।

ध्यातव्य यह है कि जिस प्रकार लोक संवृति (लौकिक सत्य) के आगे अलोक संवृति (स्वप्न, भ्रम, आभास आदि) असद् हैं उसी प्रकार पारमार्थिक

1- माध्यमिक वृत्ति, 492, बोधिचर्या, 36।

2- विस्तार के लिए देखिए - डॉ० रामनाथ शर्मा, प्रेम साधक कबीर - पृ० 156।

सत्य के आगे लोकसंवृति असत् है । अतः लौकिक विषय वस्तुओं से सम्बन्धित सकल ज्ञान विज्ञान भी असत् हुआ ।

निष्कर्ष रूप में तात्पर्य यह हुआ कि वस्तु (या ज्ञान के विषय) के दो रूप हैं - (1) सांवृतिक और पारमार्थिक । वस्तु का इन्द्रिय ग्राह्य रूप सांवृतिक है, और उसकी निःस्वभावता पारमार्थिक । प्रथम मृषादर्शी का विषय है, द्वितीय सम्यक्दर्शी का ।

सम्यक् मृषादर्शन - लब्धभावं रूपद्वयं बिभ्रति सर्वभावाः ।
सम्यक् दृशां यो विषयः स तत्त्वं मृषादृशां संवृति सत्यमुक्तम् ।।
(बोधिचर्यावतार)

तात्पर्य यही हुआ कि व्यक्त दृष्टि के वस्तु-विषयों से सम्बन्धित ज्ञान मृषा है, और अव्यक्त का ज्ञान पारमार्थिक ।

ध्यातव्य होगा कि बौद्ध धर्म का विकास द्विविध रूप में हुआ - (1) पारमितानय के रूप में और (2) मंत्रनय के रूप में । बौद्ध धर्म का उपर्युक्त दार्शनिक विवेचन पारमितानय के आधार पर हुआ है ।

मंत्रनय का विकास मूल रूप से बौद्ध-तांत्रिकाचार्यों के रूप में हुआ । महायानियों द्वारा मान्य बुद्ध-भगवान द्वारा किया गया तृतीय धर्मचक्र प्रवर्तन मंत्रयान के लिए हुआ था ।

(2) <u>बौद्धों के तांत्रिक दर्शन</u> :-

बौद्ध धर्म के भीतर तंत्र मंत्र का प्रवेश किस समय से प्रारम्भ हुआ, यद्यपि यह बात अभी तक पूर्ण रूपेण निश्चित नहीं हो पाई है, किन्तु कतिपय विद्वानों का

1- विस्तार के लिए देखिए - डॉ० रामनाथ शर्मा, प्रेम साधक कबीर - पृ० 159।

मानना है कि अभिलेखों के अध्ययन के आधार पर इस तथ्य के संकेत मिल जाते हैं कि बुद्ध भगवान की मूल शिक्षाओं में भी तंत्र-मंत्र के बीज अन्तर्निहित थे। अर्थात् प्रथमतः यह बीजरूप में थी, अनन्तर उसका विकास हुआ।

इस मंतव्य के विकासात्मक रूपान्तर - मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान तथा कालचक्रयान आविर्भूत हुए। आगे इनकी विचारधारा का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

क) मंत्रयान : वह यान (या सवारी) जिसमें मंत्रों को सर्वाधिक महत्व दिया गया - "मंत्रयान" कहा गया। मंत्र से तात्पर्य उन शब्दों से है जिनमें लोग मारण, मोहन, उच्चाटन आदि की अद्भुत शक्ति मानते हैं।[1] उनके उच्चारण मात्र से रोग, भय आदि का नाश सम्भव समझा जाता है।[2]

ये मंत्र प्रायः अर्थहीन होते थे। वसुबन्धु के अनुसार इन मंत्रों का निरर्थक होना ही सार्थक होता है। क्योंकि इनकी निरर्थकता साधक को सभी धर्मों की शून्यता का बोध कराती है।[3] ये मंत्र प्रायः इस प्रकार के होते थे - "इति मिति किशमति पदानि स्वाहा। ओम् तारे - तुत्तारे स्वाहा" आदि। ये मंत्र रहस्यात्मक होते थे।

इन मंत्रों के साथ जहाँ एक ओर देवता तथा उसकी शक्ति विषयक अवधारणा रहती है वहाँ दूसरी ओर इनमें नाद सिद्धान्त और शब्द ब्रह्म-विषयक पार्श्वभूमिका भी रहती है।[4] मंत्र का सम्बन्ध देवता तथा उसकी शक्ति से होता है। मंत्रयान के मंत्र जैसे धर्म नैरात्म्य या शून्यता के बोधक

1- म0म0 राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्व निबन्धावली - पृ0 109।
2- म0म0 राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्व निबन्धावली - पृ0 109 - 110।
3- डॉ0 रामनाथ शर्मा, शैव साधक कबीर - पृ0 115।
4- डॉ0 रामनाथ शर्मा, शैव साधक कबीर - पृ0 114।

माने गये हैं, देवताओं की उत्पत्ति भी शून्य से मानी गयी है।[1] पाँच ध्यानी बुद्ध – (1) वैरोचन, (2) रत्नसम्भव, (3) अमिताभ, (4) अमोघ सिद्धि और (5) अक्षोभ्य उनकी पाँच भार्यायें और उनसे उत्पन्न कुलों की भी कल्पना की गयी।[2] मुद्रा, हाथ और उँगलियों की विशेष स्थिति को कहा गया। मुद्रा का दूसरा अर्थ नारी लिया गया। पहले अर्थ के अनुसार मुद्राएं अवलोकितेश्वर द्वारा गृहीत पद्म, शंख, वज्र आदि को धारण करने वाली उंगलियों की स्थितियाँ (मुद्राएं) हैं। दूसरे अर्थ में मुद्रा, महामुद्रा, प्रज्ञा तथा उनकी अभिव्यक्ति उस नारी को कहा गया, जो साधक की शक्ति मात्र थी व उसको जिसके समागम से सिद्धि मिलती थी।[3]

मंत्रयान की मुद्रा विषयक अवधारणाओं से ही आगे चलकर तांत्रिक शक्तिवाद का विकास हुआ प्रतीत होता है।

इस प्रकार महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार मंत्रयान के मुख्य तीन लक्षण थे – (1) हठयोग, (2) मंत्र और (3) मैथुन। इसी का विकास आगे चलकर वज्रयान में हुआ।

(4) **वज्रयान** : मंत्रयान में जब "वज्र" की कल्पना ने प्रवेश किया और उसके देव, साधना, मंत्र, पूजाविधि एवं पूजा सामग्री आदि सभी के आगे "वज्र" शब्द प्रयुक्त होने लगा, तब मंत्रयान ही वज्रयान में बदल गया।[4] महायानी "शून्यता" का नाम यहाँ आकर वज्र हो गया और

1- डॉ० रामनाथ शर्मा, प्रेम साधक कबीर – (पृ० 115)
2- दे० डॉ० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य (पृ० 140)
3- विशेष के लिए – डॉ० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य – (पृ० 139)
4- डॉ० रामनाथ शर्मा, कबीर और अखा एक तुलनात्मक अध्ययन (पृ० 125 से आभार)

महायान का "बोधिसत्व" ही वज्रयान में "वज्रसत्व" कहलाया । अद्वयवज्र के अनुसार "वज्र" का अर्थ शून्यता है और "सत्व" विज्ञप्तिमात्रता (विज्ञानवादी बौद्धों की शुद्ध चेतना) का प्रतीक है । दोनों का तादात्म्य सिद्ध होने से वज्रसत्व कहा जाता है ।[1] महायान के शून्यता एवं करुणा नामक दोनों तत्वों को वज्रयान में क्रमशः "प्रज्ञा" व "उपाय" (स्त्री तथा पुरुष) कहा जाता है । महायान के शून्य का अर्थ जहाँ वस्तु की अभावात्मक स्थिति या उसकी सत्ता का सर्वथा निषेध था, वहीं "शून्य" उस परम तत्व मान लिए जाने के कारण - अविनाशशील, अदाह्य, अच्छेद्य, अभेद्य, अक्लेद्य तथा शाश्वत तत्व कहा जाने लगा । अर्थात् उपनिषदों एवं गीता में जो गुण आत्मा के कहे गये हैं, वज्रयान में वे ही वज्र के गुण माने गये हैं । वज्र सर्वोत्तम सत्ता का प्रतीक है ।

ग) सहजयान : जिस प्रकार वज्रयानियों ने वज्र शब्द को अपने दर्शन में प्रयुक्त किया, वैसे ही आगे चलकर सहजयानियों ने "सहज" शब्द को महत्व दिया । यद्यपि सहजयान को वज्रयान का ही विकसित रूप कहा गया है किन्तु कतिपय विद्वानों के अनुसार इसकी मुख्य विशेषता यह है कि जहाँ अन्य धार्मिक सम्प्रदायों में मनुष्य की सहजात (स्वाभाविक) वासना-वृत्ति के दमन करने की बात कह कर उसके मूलोच्छेद पर बल दिया जाता है वहाँ सहजयान में मनुष्य की इस वृत्ति के शुद्धिकरण पर जोर दिया गया है ।

घ) कालचक्रयान : बौद्ध तांत्रिक परम्परा के अन्तर्गत यह अन्तिम तांत्रिक सम्प्रदाय माना गया, जो शैवों एवं शाक्तों से प्रभावित सहजयान शाखा की परम्परा में ही आता है । कदाचित् इसलिए इसका उल्लेख बौद्ध एवं शैव दोनों परम्पराओं में मिलता है ।

1- अद्वयवज्र संग्रह - पृ० 24 (यहाँ धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य - पृ० 144 से साभार)

कालचक्र में "काल" का अर्थ "प्रज्ञा" व चक्र का अर्थ "उपाय" है । अतः कालचक्र भी प्रज्ञोपायात्मक है – "स एवं कालचक्रो भगवान् प्रज्ञोपायात्मको ज्ञानज्ञेय – सम्बन्धीनोक्तो यथाक्रमनुक्रमानं स्वचित्तक्षण हेतु भूतं काल इत्युक्तम्"।[1] यहाँ काय साधना का महत्व बढ़ा । इस सम्प्रदाय में बुद्ध की चार कायों – सहजकाय, धर्मकाय, सम्भोगकाय व निर्माण काय का वर्णन आता है । आदि-बुद्ध की सहजकाया ही परमार्थ सत्य है । यह शून्य के ज्ञान से विशुद्ध है । वास्तविक करुणा का उदय इसी काय में है, अतः यह ज्ञानचक्र कहा गया है।[2] पिण्ड में ( ) समग्र ब्रह्माण्ड (नदी, पर्वत, सूर्य, चन्द्र, लोकादि) की कल्पना कालचक्रयान के दर्शन की प्रमुख विशेषता है । इन्होंने परमसत्ता को ही कालचक्र नाम दिया था, जिसे वे आदिबुद्ध, आदिब्रह्म भी कहते हैं ।

उपर्युक्त तांत्रिक यानों में वज्रयान अपना विशेष महत्व रखता है । बाकी अन्य यानों में थोड़े – बहुत अन्तर के साथ सामान्य सिद्धान्त वज्रयानी ही हैं । वस्तुतः इन तांत्रिक सम्प्रदायों में सिद्धान्त की अपेक्षा साधनाक्रिया का महत्वपूर्ण स्थान है ।

(3) बौद्धों का काय – सिद्धान्त :-

प्रारम्भ में प्राचीन बौद्धों के द्वारा भगवान बुद्ध की दो ही कायायें मान्य थीं – (1) रूपकाय, (2) धर्मकाय । रूपकाय से तात्पर्य बुद्ध के लौकिक शरीर से और धर्मकाय से तात्पर्य उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म सम्बन्धी ज्ञान से था । आगे महायानियों ने बुद्ध की तीन कायाएं मानी – (1) धर्मकाय, (2) सम्भोग काय तथा (3) निर्माणकाय, और यह महायानियों का "त्रिकाय" सिद्धान्त" कहलाया । किन्तु बौद्ध तांत्रिक दर्शन के अन्तर्गत एक अन्य काया जोड़ी गयी और उसे "सहजकाय" नाम दिया गया । इस प्रकार बुद्ध की चार कायाओं को

1- सेकोद्देशटीका, यहाँ आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन मीमांसा – पृ0 387 से साभार ।

2- विस्तार के लिए देखिए – बौद्ध दर्शन मीमांसा – (पृ0 385)

मान्यता मिली, जो तांत्रिक बौद्धों का "चतुष्काय सिद्धान्त" कहलाया। इस काय-चतुष्टय का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

1। धर्मकाय : "प्रपंच या आवरणों से मुक्त प्रभास्वर शुद्ध चित्त ही धर्मकाय है। इसे स्वभावकाय एवं विमुक्तिकाय भी कहा गया है। बुद्ध का यह परमार्थभूत शरीर है, सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय का आधार भी यही है। इसी के कारण सम्भोग एवं विमुक्त की सिद्धि होती है।"[1] यह अनन्त और अपरिमेय तथा सर्वत्र व्यापक है।[2]

"धर्मतो बुद्धा द्रष्टव्या, धर्मकाय हि नायकाः।
धर्मता चाप्यविज्ञेया, न सा शक्या विजानितुम्।।
(माध्यमिक वृत्ति - पृ0 448)

अर्थात् बुद्ध को धर्मता के रूप में अनुभव करना चाहिए, क्योंकि वे मनुष्यों के नायक ठहरे, उनका वास्तविक शरीर धर्मकाय है। लेकिन यह धर्मता अविज्ञेय है। उसी प्रकार तथागत भी अविज्ञेय ही है।[3] इसे अनास्रव, विसंस्कारगत, अनन्त, अचिन्त्य, कुशल, ध्रुव, सर्वतः प्रभः, सर्वव्यापी, दुर्विज्ञेय, प्रत्यात्मवेदनीय अर्थात् स्वसंवेद्य आदि कहा गया है।[4]

2। सम्भोगकाय : सम्भोगकाय दो प्रकार का माना गया है - (1) परसम्भोगकाय - जो कि बोधिसत्वों का काय कहा गया है, (2) स्वसम्भोगकाय - यह काय ही बुद्ध का अपना विशिष्ट शरीर है। महायानी मान्यतानुसार गृद्धकूट पर्वत पर या सुखावती

1- डॉ0 रामनाथ शर्मा, प्रेम साधक कबीर - (पृ0 107)
2- आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध - दर्शन - मीमांसा - (पृ0 139)
3- आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध - दर्शन - मीमांसा - (पृ0 139)
4- डॉ0 रामनाथ शर्मा, प्रेम साधक : कबीर (पृ0 108)

व्यूह में इसी काय के द्वारा भगवान बुद्ध ने दूसरी बार धर्म का उपदेश दिया था, यह बुद्ध भगवान का द्वितीय धर्मचक्र प्रवर्तन था -

"इदं पुनर्भगवताऽनुत्तरं द्वितीय धर्मचक्र प्रवर्तितम्"।[1]

सम्भोगकाय की प्राप्ति शुभकर्मों की परिणति के रूप में होती है। उन पुण्यों के फल को इसी काय के द्वारा भोगा जा सकता है। सम्भोग के धारक बुद्ध अथवा बोधिसत्वों का निवास सुखावती व्यूह अथवा तुषित लोक (बौद्ध - साहित्य में मान्य स्वर्गों के नाम) जैसे दिव्य लोकों में है। इस शरीर का कार्य वस्तुतत्व से अनभिज्ञ होने वाले लोगों के सामने परिकल्पित और परतन्त्र रूप का उपदेश करना है।[2] इस काय में महापुरुष के समस्त लक्षण विद्यमान रहते हैं। इसी शरीर को धारण कर बुद्ध भगवान योग्य शिष्यों के सामने धर्म के गूढ़ तत्वों का उपदेश करते हैं।[3]

3) निर्माणकाय : माता-पिता से उत्पन्न बुद्ध - भगवान का शरीर जो जनसाधारण के कल्याणार्थ धारण किया था, वह बुद्ध का निर्माणकाय था। निर्माणकाय से महायानियों का तात्पर्य भगवान बुद्ध के लौकिक शरीर से है। महायानी मान्यता के अनुसार बुद्ध की सम्भोगकाया तो तुषित लोक अथवा सुखावती व्यूह में रह कर ही बोधिसत्वों अथवा अधिकारीजनों को धर्म के गूढ़ रहस्यों से अवगत करा देती है, किन्तु पृथ्वी आदि अन्य लोकों में पृथग्जनों एवं हीनयानी श्रावकों (निम्न स्तर के अधिकारियों) को धर्म का उपदेश देने के लिए वह निर्मितकायों का सर्जन करके उन्हें यत्र-तत्र भेज देती है। बुद्ध की निर्माण काया अनन्त हैं[4] परमार्थ की सिद्धि भिन्न-भिन्न शरीरों के द्वारा सम्पन्न की जा सकती है,

---

1- आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध - धर्म - दर्शन - (पृ0 144)
2- आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन मीमांसा - (पृ0 137)
3- आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन मीमांसा - (पृ0 137)
4- डॉ0 रामनाथ शर्मा, प्रेम साधक कबीर - (पृ0 109)

उन सब शरीरों को बुद्ध ने इसी निर्माणकाय के द्वारा धारण किया ।[1] असंग ने कहा[2] –

> "शिल्प – जन्म – महाबोधि – सदा निर्वाण – दर्शनैः ।
> बुद्ध निर्माणकायोऽयं महामायो विमोचने ।।"

4। सहजकाय : सहजकाय अथवा सहजावस्था पर्याय रूप है । सहजकाय की कल्पना बौद्ध तान्त्रिकों के सहजयान की देन है । सहजयानियों के "सहज" शब्द का अर्थ कुछ विद्वानों के अनुसार उपनिषदों के ब्रह्म के ही समतुल्य है । किन्तु सहजावस्था अथवा सहजकाय उपनिषदों अथवा शंकराचार्य के केवलब्रह्म का पर्याय न होकर दो तत्वों की समरसता है । इसी को ये लोग महासुख भी कहते हैं । जिन दो तत्वों की समरसता सहजावस्था में अपेक्षित है तान्त्रिकों की भाषा में उन्हें "प्रज्ञा" और "उपाय" नाम दिए गये हैं ।

उपर्युक्त के अतिरिक्त भगवान बुद्ध की शिक्षाओं के अन्तर्गत ब्राह्मण परम्परा का विरोध भी अविस्मरणीय है । जिसका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है ।

14। <u>ब्राह्मण परम्परा से विरोध</u> :-

इसको हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रखकर स्पष्ट कर सकते हैं यथा –

1। वर्ण व्यवस्था का विरोध : सामान्य रूप से यह माना जाता है कि आर्यों की वर्ण व्यवस्था समाज में ऊँच-नीच का भेद पैदा करनेवाली व्यवस्था है । बुद्ध ने इसका विरोध करके समाज

1- आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन मीमांसा – पृ० 135 से साभार
2- आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन मीमांसा – पृ० 135

को मानवतावादी व्यवस्था का आधार देने का प्रयत्न किया । बुद्ध शूद्र (क्षुद्र या नीच) और ब्राह्मण का भेद जन्म के आधार पर नहीं कर्म के आधार पर मानने के पक्षधर थे ।

न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
कम्मुना वसलो होति कम्मुना होति ब्राह्मणो ।।[1]

उनके अनुसार – "मा जाति पुच्छ, चरणं च पुच्छ" (जाति मत पूछ, आचरण पूछ)...... नीचे कुल का भी पुरुष धृतिमान, जानकार और पाप रहित मुनि होता है । जो सत्य से दान, दमन युक्त वेद के अन्त को पहुँचा (वेदान्तगू) है और जिसने ब्रह्मचर्य पूरा किया है, उसे यज्ञ में प्राप्त यज्ञ-उपनीत कहो ।[2] वर्ण व्यवस्था का पूर्ण खण्डन करते हुए बुद्ध का कहना है कि कर्म से मनुष्यों का ब्राह्मण होना निष्पन्न होता है । उनके धर्मसंघ में चाहे मनुष्य किसी भी दिशा से आवे और चाहे किसी वर्ण अथवा जाति का हो, समान रूप से शान्ति पाने का अधिकारी है ।[3]

बुद्ध के अनुसार जाति अथवा ऊँच-नीच का विचार तो आवाह विवाह में होता है, जहाँ मनुष्य कहते हैं तू मेरे योग्य है अथवा तू मेरे योग्य नहीं है । प्रधान (पुरुषार्थ – तपस्या) मनुष्यों में भेदभाव नहीं करता (कण्णकत्थलक सुत्त मज्झिम – 2/4/10) । किसी भी वर्ण का परिव्राजक तथागत द्वारा उपदिष्ट मैत्री करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा की भावना कर आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त कर सकता है (चूल अस्सपुर सुत्त : मज्झिम निकाय, 1/4/10)।[4]

1– सुत्तनिपात

2– सुन्दरिक भारद्वाज – सुत्त (सुत्तनिपात) –
(यहाँ डॉ० भरतसिंह उपाध्याय, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० 223 से साभार)

3– उपरिवत्

4– देखें : बुद्धचर्या – (पृ० 280)

2. ब्राह्मण धर्म का विरोध : बौद्ध - वाङ्मय में दो प्रकार के ब्राह्मणों के उल्लेख हैं । एक जिन्हें ब्राह्मणत्व "जन्मना जाति" के नियमानुसार प्राप्त है और वे वेदत्रयी के ज्ञाता हैं । दूसरे ऐसे हैं जिन्होंने ब्राह्मणत्व की प्राप्ति "कर्मना जाति" के नियमानुसार अर्जित की है और वे "वेदगू" अथवा "वेदन्तगू" अर्थात् वेदों के अन्त तक जाने वाले या वेदों का अतिक्रमण करने वाले कहे गये हैं । प्रथम कोटि के ब्राह्मण आर्यों की व्यवस्था के ब्राह्मण हैं, जो बुद्ध की दृष्टि से ब्राह्मण होने के अधिकारी नहीं है । बुद्ध कहते हैं - माता की योनि से उत्पन्न होने के कारण किसी को मैं ब्राह्मण नहीं कहता । जो "भोवादी" हैं, (ब्राह्मण एक दूसरे को भो कह कर बुलाते थे) वे तो संग्रही (धनुहन्य) हैं । (धम्मपद गाथा - 396) । तेविज्जसुत्त (दीघनिकाय 1/13) में त्रैविध अर्थात् वेदत्रयी के ज्ञाता ब्राह्मणों को पाँच काम गुणों (रूप, रस, गन्धादि) के उपभोक्ता एवं बन्धनग्रस्त कहा गया है । ये ही वे ब्राह्मण (आर्य ब्राह्मण) हैं जिन्हें जातकों (दे० राध जातक, सतधम्म जातक, उद्दालक जातक, सुरुक जातक - इत्यादि) में सब प्रकार के अनाचारी एवं दुराचारी चित्रित किया गया है । इन ब्राह्मणों का विरोध करते हुए बुद्ध ने कहा - वे त्रैविध ब्राह्मण जो ब्राह्मण बनाने वाले धर्म हैं, उनको छोड़कर पाँच काम गुणों को भोगते हुए, काम के बन्धन में बंधे हुए, काया छोड़ने पर मरने के बाद ब्रह्मा की सलोकता को प्राप्त होंगे - यह सम्भव नहीं ।[1]

दूसरे ऐसे ब्राह्मण हैं, जिन्हें "वेदगू" कहा गया है । बुद्ध ने जिनको नमस्कार किया है - "ये ब्राह्मणा वेदगू, सब्ब धम्मे ते मे नमो ते च मं पालयन्तु" - (मोर जातक, क्रम संख्या 159) - धम्मपद के सूत्रों

1- डॉ० भरतसिंह उपाध्याय, बौद्ध - दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन - (पृ० 744)

"ब्राह्मणधम्मो" में सच्चे ब्राह्मण के जो लक्षण दिए गये हैं, वे सभी बौद्ध भिक्षुओं, श्रमणों व अर्हतों के ही हैं । अतः बुद्ध की दृष्टि में सर्वस्व त्यागी श्रमण ही सच्चे ब्राह्मण हैं ।[1]

3ः वैदिक देवताओं की अवमानना : वैदिकों के परवर्ती देवता, ब्रह्मा अथवा प्रजापति की सर्वज्ञता एवं ईश्वरत्व का बौद्धों ने मज़ाक उड़ाया है । वैदिक देवता बुद्ध-पुरुष से नीची अवस्था में ही पालि त्रिपिटक में अक्सर दिखाए गये हैं । कहीं वे बुद्ध या उनके शिष्यों की छोटी-मोटी शारीरिक सेवाएं करते दिखाए गए हैं, तो कहीं उनसे उपदेश ग्रहण करते हुए । कहीं ःसहापति ब्रह्मा के समानः उनसे याचना करते हुए और कहीं उनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए मानवीय जन्म भी ग्रहण करते हुए।[2] कुलावक जातक ःक्रम संख्या 31ः में वैदिक इन्द्र को मघमाणव नाम देकर अहिंसा का पालन करने वाला एक समाज-सेवक चित्रित किया गया है । "सक्कसंयुत्त" में इन्द्र को सुभाषितों द्वारा असुरों पर विजय प्राप्त करते हुए दर्शाया गया है । कुल मिलाकर पालि त्रिपिटकों में वैदिक देवता कहीं तो बुद्ध के शिष्यों के सेवक के रूप में तो कहीं बौद्ध धर्म की शिक्षाएँ ग्रहण करते हुए वर्णित किए गये हैं । जो कि बौद्धों से स्पष्टतः उन्हें निम्न स्तर का दर्शाने का प्रयास है ।

4ः वैदिक हिंसा अथवा यज्ञ का विरोध : दीघ निकाय ःकूटदन्त सुत 1/5ः के एक आख्यान के अनुसार बुद्ध जब खाणुमत नामक ग्राम में पहुँचे तब वहाँ का कूटदन्त नामक वैदिक ब्राह्मण एक महायज्ञ की तैयारी कर चुका था । इस यज्ञ में 700 बैल, 700 बछड़े,

---

1- दे0 डॉ0 रामनाथ शर्मा, मध्यकालीन भक्ति काव्य की धार्मिक पृष्ठभूमि - भाग एक

2- बौद्ध दर्शन व अन्य भारतीय दर्शन - ःपृ0 73ः

700 बछियाँ, 700 बकरियाँ और 700 भेड़ें बलिकर्म के लिए लाई गयी थीं । बुद्ध के आगमन का पता चलने पर कूटदन्त उनसे मिलने गये और प्रार्थना की - "भगवान ! सुनते हैं कि आप "सोलह परिष्कार सहित त्रिविध यज्ञ सम्पदा जानते हैं । x x x x कृपाकर सोलह परिष्कार वाली यज्ञ-विधि (मुझे) बतायें ।

बुद्ध ने कूटदन्त (ब्राम्हण) को "महाविजित" राजा द्वारा किये गये उस अहिंसक यज्ञ की विधि बताई जिसमें अपने पूर्व जन्म में - पुरोहित का काम उन्होंने किया था । बुद्ध ने कहा - ब्राम्हण । उस यज्ञ में गायें नहीं मारी गईं, बकरे - भेड़ें नहीं मारी गईं, मुर्गे, सुअर नहीं काटे गये, न नाना प्रकार के प्राणियों का ही वध किया गया । न यूप के लिए वृक्ष काटे गये, न परहिंसा के लिए कोई प्राणी मारा गया । जो भी उसके (राजा महा-विजित के) दास, प्रेष्य, कर्मकर थे उन्होंने भी दण्डतर्जित, भयतर्जित हो, अश्रुमुख नहीं की । जिन्होंने चाहा उन्होंने किया, जिन्होंने नहीं चाहा उन्होंने नहीं किया । घी, तेल, मक्खन, दही, मधु और गुड़ से वह यज्ञ समाप्ति को प्राप्त हुआ ।

उसके बाद बुद्ध ने उसे दान-यज्ञ, त्रिशरण यज्ञ, शिक्षापद-यज्ञ, शील-यज्ञ, समाधि यज्ञ और प्रज्ञा यज्ञ की व्याख्या बतलाई । जिसके फलस्वरूप कूटदन्त ने उपासक होना स्वीकार कर लिया और बलि-कर्म के लिए एकत्रित किये गये सभी पशुओं को मुक्त कर दिया ।

सुत्त-निपात (3/5) के एक प्रसंग में बुद्ध का कथन है - ब्राम्हण । लकड़ी जलाकर शुद्धि मत मानो, यह बाहरी चीज है । कुशल लोग उसे शुद्धि नहीं बतलाते, जो कि बाहर से भीतर की शुद्धि है । ब्राम्हण, मैं दारुदाह को छोड़कर भीतर की ज्योति जलाता हूँ । नित्य अग्निवाला, नित्य एकान्तचित्त वाला हो, मैं ब्रह्मचर्य का पालन करता हूँ । ब्राम्हण तेरा अभिमान खारिभार है, क्रोध धुआँ है, मिथ्या-भाषण भस्म है, जिव्हा स्रुवा है, और हृदय ज्योति

का स्थान है । आत्मा (अहंता) का दमन करने पर पुरुष को ज्योति प्राप्त होती है । ब्राम्हण शील-तीर्थवाला, सन्तजनों द्वारा प्रशंसित, निर्मलधर्म हृद है, जिसमें "वेदगू" (वेदों का अतिक्रमण करने वाले) नहा -कर बिना भीगे गात्र के पार उतरते हैं । यह ब्रह्म-प्राप्ति सत्य, धर्म, संयम, ब्रह्मचर्य पर आश्रित है । सो तू ऐसे ऋजुजन करने को नमन कर, उनको मैं पुरुष-दम्य सारथी कहता हूँ ।

तीनों वेदों में पारंगत कहे गये बावरि ब्राम्हण के शिष्य - "पुण्णक" के एक प्रश्न के उत्तर में बुद्ध ने कहा - "पुण्णक ! जिन किन्हीं ऋषियों, मनुष्यों, क्षत्रियों, ब्राम्हणों ने यहाँ लोक में देवताओं के लिए पृथक-पृथक यज्ञ कल्पित किए हैं, उन्होंने इस जन्म की चाह रखते हुए जरा आदि से अ-मुक्त होकर ही किए हैं । x x x x वे जो आशंसन करते, स्तोत्र करते, अभिजल्प करते हवन करते हैं, तो लाभ के लिए कामों को ही जपते हैं । वे यज्ञ के योग से भव के राग से रक्त हो जन्म-जरा को पार नहीं हुए हैं - ऐसा मैं कहता हूँ ।"

यज्ञ विषयक बुद्ध के उपर्युक्त विचारों का सारांश यह है कि एक तो यज्ञ में होने वाली पशु हिंसा त्याज्य है । दूसरे, यज्ञ एक सकाम कर्म है, अतः उसके फलस्वरूप इहलोक व परलोक के अनित्य सुख भले ही प्राप्त हों, जन्म - मरण के भवचक्र से मुक्ति उनके द्वारा अप्राप्य है ।[1]

(5) बौद्ध योग साधना :-

बौद्ध धर्म के विकास के तीन स्तर हम देख चुके हैं, जिन्हें बौद्ध मान्यताओं के अनुसार बुद्ध द्वारा तीन बार "धर्म चक्र प्रवर्तन" कहा गया है । इन तीन

1- डॉ० रामनाथ शर्मा, मध्यकालीन भक्ति काव्य की धार्मिक पृष्ठभूमि - भाग-1 से साभार ।

विकासात्मक स्तरों से सम्बद्ध बातें साधना के तीन सोपान हैं -

(1) बौद्ध ध्यान योग, (2) षडङ्गयोग

(3) बौद्ध तांत्रिक योग

1) **बौद्ध ध्यान योग** :- महाभिनिष्क्रमण के उपरान्त महात्मा बुद्ध ने जिन दो तपस्वियों से परिचय प्राप्त किया था वे क्रमशः अराडकालाम और उद्रक रामपुत्र । ये दोनों ही अपने समय के सुप्रसिद्ध सांख्ययोगी थे । यह बात भी प्रसिद्ध है कि स्वयं भगवान बुद्ध ने बोधगया में "आस्फानक समाधि का अभ्यास किया था । बोधिवृक्ष के नीचे निरंजना नदी के तट पर, उरुवेला में, भगवान बुद्ध को जिस सत्य का साक्षात्कार अथवा बोधि प्राप्त हुई थी, वह उन्हें विमुक्ति सुख के अनुभव के साथ किये गये ध्यानपूर्वक चिन्तन के परिणाम स्वरूप ही हुआ था ।

योग से सम्बन्धित भगवान बुद्ध के उपदेश "सुत्त पिटक" के सुत्तों में भी पाये जाते हैं किन्तु प्राचीन बौद्ध योग जो "बौद्ध ध्यान योग" के नाम से जाना जाता है, उसका प्रामाणिक ग्रंथ "विसुद्धिमग्ग" है जो कि आचार्य बुद्धघोष की रचना है । हीनयानी साधकों की साधना का लक्ष्य वैयक्तिक निर्वाण या अर्हत पद प्राप्त करना था । लक्ष्य सिद्धि के लिए ध्यान तथा ध्यानजन्य समाधि का आधार ग्राह्य था । इस ध्यान योग के अन्तर्गत हम बुद्ध भगवान के वे उपदेश जो उन्होंने प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन के माध्यम से लोगों को दिये, उन्हें रखा जा सकता है, जैसे अष्टांगिक साधना का मार्ग, जिसे उन्होंने शील, समाधि एवं प्रज्ञा नामक तीन भागों में रखा । इसके साथ ही प्रतीत्यसमुत्पाद व द्वादस निदान को भी हम बौद्ध ध्यान योग के अन्तर्गत ले सकते हैं, जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं ।

2) **षडङ्गयोग** : इस योग के छः अंग हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं -

(1) प्रत्याहार, (2) ध्यान, (3) प्राणायाम, (4) धारणा, (5) अनुस्मृति और (6) समाधि ।

65

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा ।
अनुस्मृति समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ।।

– गुह्यसमाज तंत्र (पृ0 163)

प्रत्याहार के द्वारा मंत्रों का अधिष्ठान होता है, ध्यान के ज्ञान द्वारा पंच अभिज्ञाओं की प्राप्ति होती है, प्राणायाम से बोधि सत्व का अनुष्ठान होता है और अंत में समाधि से निवारण दशा उत्पन्न हो जाती है ।[1] इसका तात्पर्य यह हुआ कि षडङ्गयोग के साधक का स्वच्छ अनावरण प्रकाश की प्राप्ति है जो प्रत्याहार आदि षडङ्गों की सफलतापूर्वक की गई साधना से मंत्रसिद्धि, पंच अभिज्ञाप्राप्ति, बुद्धत्वप्राप्ति, प्रभामण्डल की उत्पत्ति और साधक का उसमें प्रवेश के क्रम में साध्य है ।[2]

3) बौद्ध तांत्रिक योग : जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, महायानियों के अनेक सम्प्रदाय बनते चले गए, किन्तु मूल रूप में वे दो ही सम्प्रदायों के अंग थे – (1) पारमितानय और (2) मंत्रनय । यद्यपि तांत्रिक मतों का विकास मंत्रनय से ही माना जाता है, किन्तु म0म0 गोपीनाथ कविराज पारमितानय को भी तांत्रिक कोटि में गिनते हैं ।[3]

महाशक्ति की आराधना ही तांत्रिक साधना का वैशिष्ट्य माना जाता है । तांत्रिक दृष्टि से प्रज्ञा – उपाय, प्राण – अपान, शिव – शक्ति, प्रकृति – पुरुष, आत्मा – परमात्मा, नाद – बिन्दु, नर – नारी बाचक शक्तियों के अभेद को योग कहते हैं । डॉ0 धर्मवीर भारती ने एफ0 वुडवर्ड द्वारा अनुदित और राइस डेविस द्वारा सम्पादित – "मैन्युअल ऑफ दि मिस्टिक"

1– दे0 गोपीनाथ कविराज, भारतीय संस्कृति और साधना – भाग–1 – (पृ0 539)
2– डॉ0 रामनाथ शर्मा – श्रेय साधक कबीर – (पृ0 272)
3– भारतीय संस्कृति और साधना – भाग–1 – (पृ0 528 – 529)

अथवा "योगाचारी मैन्युअल" नामक ग्रन्थ के आधार पर योगाचारियों की जिस "झाण" (ध्यान) साधना का विवरण प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार इस साधना में बुद्ध, धर्म एवं संघ के त्रिरत्न के प्रतीक "अर्हम्" बीजाक्षर का प्राणायाम के आवागमन की क्रिया के साथ किये जाने वाले जप, पंचमहाभूतों के ध्यान और उसके फलस्वरूप चित्त में उनकी (पंचभूतों की) क्रमानुसार उत्पत्ति का समावेश है।

बौद्ध मान्यताओं के अनुसार गृध्रकूट (धान्यकटक) पर द्वितीय धर्मचक्र प्रवर्तन भगवान बुद्ध ने मंत्रयोग अथवा तांत्रिक योग के लिए किया था। इसके अन्तर्गत तांत्रिकों की प्रज्ञोपाय साधना, रागयोग आदि को रखा जा सकता है, जिसकी चर्चा हम आगे के अध्याय में बौद्ध तांत्रिकों की राग साधना के अन्तर्गत करेंगे।

बौद्ध तांत्रिकों की साधना की यद्यपि अनेक दिशाएं हैं किन्तु उन सब का लक्ष्य एक ही है और वह है, वज्रभाव की प्राप्ति। जिसे वे समरसता, महारस, महाभाव की प्राप्ति आदि भी कहते हैं, जिसे वे बिन्दु की रक्षा, स्थिरता, शुद्धि एवं ऊर्ध्व - गति की साधना द्वारा प्राप्त करते हैं। इस वज्रभाव की प्राप्ति में मन एवं प्राण आदि की चंचलता अन्तराय रूप है। मन एवं प्राण आदि की चंचलता वज्रयानियों के अनुसार बिन्दु की चंचलता के अधीन है। अतः बिन्दु को ही यौगिक साधना द्वारा स्थिर, शुद्ध एवं ऊर्ध्वगामी बनाकर विशुद्ध रूप देना होता है।

बिन्दु - साधना की बहुत सी क्रियाएँ गुप्त रहती हैं। साधना की योग्यता प्राप्त कर लेने पर (अर्थात् गुरु द्वारा आयोजित सभी (या आठ) परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर बत्तीस लक्षण से युक्त होने पर साधक अपनी मुद्रा (नायिका) के साथ अभिषेक (पूर्वाभिषेक) के लिए गुरु के समक्ष उपस्थित

होता है । अभिषेक के बाद साधक और उसकी प्रज्ञा (या मुद्रा) मण्डल में प्रवेश करते हैं और योग – क्रिया का अनुष्ठान करते हैं । इस समय अन्तर तथा बाह्य विक्षेप दूर करने के लिए संरक्षक क्रिया की जाती है। इसके बाद बोधिचित्त का उत्पाद आवश्यक होता है । प्रज्ञा तथा उपाय के योग से अर्थात् साधक तथा मुद्रा के सम्बन्ध से बोधिचित्त का उद्भव होता है ।[1]

उक्त बिन्दु साधना ने आगे चलकर अनेक रूप ग्रहण किए । जिस किसी को अनुसार अभिषेक से भगवत्पद प्राप्त हुआ, उसी ने उसका नवीन संस्करण प्रस्तुत किया और दावा किया कि उसके द्वारा उपदिष्ट, साधना सर्वथा नवीन व सभी दोष विनिर्मुक्त सरल, शीघ्र फलदायी एवं अभीष्ठ है।[2]

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के आधार पर हम आगे के अध्याय में मध्यकालीन कृष्णभक्ति काव्य के स्वरूप व स्रोत पर विचार करेंगे ।

1– विस्तार के लिए देखिए – डॉ० रामनाथ शर्मा, श्रेय साधक कबीर – पृ० 283।

2– विस्तार के लिए देखिए – डॉ० रामनाथ शर्मा, श्रेय साधक कबीर – पृ० 286।